

5.1

शोध प्रश्न-6: 'नीति शिक्षा' क्या बेरोजगारी की स्थिति का कारक नहीं होगी और क्या 'नीति शिक्षा' विद्यमान बेरोजगारी को दूर करने में सहायक होगी?

शोध प्रश्न-9: क्या 'नीति शिक्षा' गरीबी की स्थिति पर काबू पा सकेगी?

शोध प्रश्न-11: क्या 'नीति शिक्षा' वैश्वीकरण में बाधा नहीं होगी?

चूँकि उपरोक्त शोध प्रश्नों-6, 9 11 पर विवेचन करने की आधारभूत सामग्री बहुत अधिक समान होने कारण और विश्वविद्यालय के नियम में पुनरावृत्ति की अनुमति नहीं होने के कारण, उपरोक्त शोध प्रश्नों-6, 9 11 पर विवेचन एक साथ यहाँ किया जा रहा है।

उपरोक्त शोध प्रश्नों-6, 9 11 पर विवेचन इसी शोध प्रबन्ध के अनुच्छेद 3.1.2 से 3.1.4 में वर्णित नीति, शिक्षा और 'नीति शिक्षा' के विवेचन व निष्कर्ष पर आश्रित है, और विश्वविद्यालय के नियम में इनकी पुनरावृत्ति की अनुमति नहीं है।

अतः उक्त नीति, शिक्षा और नीति शिक्षा संबंधी अनुच्छेद 3.1.2 से 3.1.4 में वर्णित विवेचन व निष्कर्ष को इस प्रश्न के उत्तर का आधार व अंग मानते हुए उपरोक्त शोध प्रश्नों- 6, 9 व 11 के संबंध में आगे का विवेचन व निष्कर्ष नीचे व्यक्त किया जा रहा है।

विवेचन व निष्कर्ष

सांसारिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक सांसारिक नियम बनाने वाले आपसी प्रेम, सहानुभूति व सद्भावना को एक आकस्मिक बात मानते हैं व उन्हें प्रगति में बाधक मानते हैं, और दूसरी ओर सांसारिक नियम बनाने वाले इच्छाओं, लोभ व प्रतिद्वंद्विता को विकास का वास्तविक साधन मानते हैं। और इस कारण उक्त नियम बनाने वाले आपसी प्रेम व सहानुभूति को बनाने, बनाए रखने व विकसित करने हेतु ध्यान नहीं दे कर, सबसे पहले उन व्यवहारों को करने की सीख देते हैं व ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे अधिक-से-अधिक धन-संपत्ति व सांसारिक ऐश-आराम व भोग की वस्तुएं एकत्रित हो और जब ऐसा हो जाए, तभी अन्य लोगों के प्रति प्रेम व सहानुभूति दिखानी चाहिए।

किंतु ऐसी सोच व ऐसा व्यवहार बिल्कुल अनुचित है क्योंकि धन-संपत्ति, इज्जत, मान आदि के नियम और उनका महत्व ऐसे नहीं हैं, जितने की आपसी प्रेम, सहानुभूति व सद्भावना के हैं। पारस्परिक प्रेम व सहानुभूति के नियम मानव के लिए मूलभूत है, सर्वोत्तम है, सार्वकालिक हैं, सार्वदेशिक हैं, व प्राथमिकरूप से अनुपालना करने योग्य हैं और ये नियम मानव के अंदर विद्यमान शक्ति (आत्मबल) के हैं; जबकि सांसारिक व्यवहार के नियम व्यक्तियों द्वारा, जो कि अज्ञानी व पूर्ण हैं, तरह-तरह की अच्छी-बुरी स्थितियों व दृष्टियों से बनाए जाते हैं, और इसलिए निर्दोष नहीं हैं।

खरीद-बिक्री, लेन-देन, धन, व्यापार के नियमों की शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मशक्ति, इसलिए, बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं, और इसलिए व्यापारिक लेनदेन व धन के आदान-प्रदान करने के नियम, भावना और भावनाओं को प्रभावित करने के काम में प्रभावशील नहीं होते हैं। इसलिए सांसारिक नियम कितने भी ठीक क्यों न दिखें, वो भावना से बंधे व्यक्तियों पर लागू नहीं हो सकते हैं। और इसलिए व्यक्तियों की भावनाओं की उपेक्षा करके या व्यक्तियों की भावनाओं को ध्यान में न रखकर बनाए गए सांसारिक नियम (अर्थशास्त्र व इसके नियम) सर्वथा बेकार हैं। व्यापार, लेन-देन व खरीद-बिक्री के नियमों के समूह रूप में अर्थशास्त्र नामक नियम भी सांसारिक है। और उपरोक्त कारणों से अर्थशास्त्र के नियम भावनाओं से बंधे मनुष्य पर लागू नहीं हो सकते हैं, और लागू नहीं करने चाहिए। उदाहरण बतौर, हड़ताल की घटना को लेते हैं। हड़ताल परिणित होती है, व्यक्तियों में स्वार्थपरता के कारण। स्वार्थपरता नहीं हो, तो हड़ताल नहीं हों, नौकर व मालिक में आपसी प्रेम व सहानुभूति बनी रहे। लेकिन स्वार्थपरता है, तो आजकल के अर्थशास्त्र के नियमों की वजह से है। इसलिए उत्पादन, माँग-पूर्ति, मूल्य आदि विषयक आजकल के अर्थशास्त्र के नियम अनुपालनीय नहीं हैं।

बजाए अर्थशास्त्र के नियमों के ईश्वरीय / सृष्टि नियम ही उपयोगी व सार्थक हैं, और इन सृष्टि नियमों या नीति-नियमों का उद्देश्य धन को प्राप्त करने व एकत्र करने का नहीं है। इसलिए इन नीति नियमों के अनुसार व्यक्तियों का व्यवहार शासित होना चाहिए; न कि अर्थशास्त्र द्वारा। ये नीति नियम किसी देश, काल, व स्थिति से बंधे हुए नहीं हैं; जबकि आजकल के अर्थशास्त्र के नियम इनसे बंधे हुए हैं। अर्थशास्त्र आधारित है, स्वार्थ सिद्धि पर; जबकि नीति नियम या ईश्वरीय नियम में स्वार्थ का कोई स्थान नहीं है। नीति नियम सच्चे न्याय सिद्धांत पर आधारित हैं; यहाँ तक कि कभी-कभी व्यक्ति भी प्रकृति द्वारा / सृष्टि द्वारा किए गए न्याय के नियम को समझ नहीं पाते हैं, किंतु नीति नियम न्याय आधारित ही रहते हैं। और इन नीति नियमों के अनुसार ही व्यक्तियों को फल मिलता है, हालाँकि व्यक्ति यह समझ नहीं सकते कि फल क्या मिलेगा, किस रूप में मिलेगा और कितनी मात्रा में मिलेगा। कारण, नीति नियम अदृश्य शक्ति द्वारा बनाए गए हैं और अदृश्य हैं।

इसलिए मालिक और नौकर का संबंध नीति नियम के अनुकूल न्याय अनुसार होना चाहिए; पारस्परिक प्रेम, सद्भावना बलिदान व सहानुभूति पर आधारित होना चाहिए— न कि आजकल के अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार। क्योंकि नौकर मानव के अंदर अनुभूतियोग्य आत्मबल से संचालित होता है, और आत्मबल के सामने अर्थशास्त्र की सारी विद्यायें, शक्तियाँ, व नियम बेकार हैं व निष्प्रयोजनीय हैं। यदि पारस्परिक प्रेम आधारित संबंध होते हैं नौकरों व मालिकों में, तो इस प्रकार के संबंध से जो प्रतिफल प्राप्त होता है वो उस प्रतिफल से कहीं अधिक महत्व का होता है जो प्रतिफल धन के आदान-प्रदान के संबंधों से मिलता है। उदाहरण बतौर, सैनिक व सेना प्रमुख के बीच संबंध तथा दस्यु सरदार व डकैतों के मध्य संबंध हैं। इनके बीच संबंध आपसी प्रेम, त्याग व सहानुभूति पर आधारित होते हैं और परिणाम वो प्राप्त होते हैं जो सैनिकों को व डकैतों को धन देकर सेनापति व सरदार प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि माँग-पूर्ति का विचार किए बिना नौकरों की सैलरी किस हद तक निर्धारित की जा सकती है? दूसरा प्रश्न यह है कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक-नौकरों का या सेनापति-सिपाहियों का स्थाई संबंध होता है, उसी तरह कारखानों में अनुकूल व प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों में नौकरी की संख्या स्थायी किस तरह रखी जा सकती है? (गांधी, 2011)

पहले प्रश्न पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि कारखाने के मजदूरों की तनखाह की एक दर निश्चित हो जाने का उपाय अर्थशास्त्री नहीं निकलता है। इसके अलावा यह भी पाते हैं की प्रधानमंत्री का पद बोली लगा कर बेचा नहीं जाता, मनुष्यों के मध्य अन्तरों को बिना देखे समान वेतन दिया जाता है उस मनुष्य को जो प्रधानमंत्री होता है। इसी तरह, जिस व्यक्ति पर कम से कम खर्च हो, उसे हम पादरी के पद पर नहीं बैठाते। डॉक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणतया इसी तरह का संबंध नहीं रखा जाता। अर्थात्, इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हम एक निश्चित की हुई तनखाह देते हैं, चाहे व्यक्ति कैसा भी हो। इस बात पर प्रश्न उठता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूर का वेतन भी एक ही होना चाहिए? वास्तव में होना तो यही चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि जिस तरह हम सब डॉक्टर और वकीलों की फीस एक ही होने से अच्छे वकील व डॉक्टरों के पास जाते हैं उसी तरह सब मजदूरों की मजदूरी एक ही होने पर मालिक लोग अच्छे मजदूर से ही काम लेना पसंद करेंगे। अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसंद किया जाए। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहाँ अनाड़ी व्यक्ति कम वेतन लेकर मालिक को धोखा दे सकता है, वहाँ अंत में बुरा ही परिणाम होता है। (गांधी, 2011)

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करने पर यह पाया जाता है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, कारखाने में जितने व्यक्तियों को आरंभ में रखा हो उतने को सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियों को अनिश्चित काल-रूप से रोजगार मिलता है, तब उन्हें ऊँची तनखाह माँगी ही

पड़ती है। किंतु, यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाए कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी, तो वह बहुत थोड़ी तनखाह में भी काम करेंगे। सिपाही का काम कत्ल करने का नहीं बल्कि दूसरों की रक्षा करते-करते खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात वकील, डॉक्टर और पादरी के संबंध में भी लागू होती है। इसलिए उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए, डॉक्टर को अनेक संकटों में भी अपने रोगी का उपचार करना उचित है; और पादरी धर्मोपदेशक को चाहिए कि उस पर कुछ भी क्यों न बीते पर अपने समुदाय वालों को ज्ञान देता चलता रहे और सच्चा रास्ता बताता रहे। यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है, तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता? आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्य का संबंध मान लेने का क्या कारण है? विचार करने पर ज्ञात होता है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है, किन्तु लोगों ने मान लिया है कि व्यापारी का उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। और-तो-और कानून भी इसी दृष्टि से बनाए जाते हैं कि व्यापारी छीन-झपट कर मनमाने ढंग से धन बटोर सके। प्रचलन ऐसा ही पड़ गया है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दें और व्यापारी अधिक-से-अधिक माँगे और वसूले। लोगों ने खुद ही व्यवहार में ऐसी आदत डाली है, और अब व्यापारी को उसकी बेईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना है, धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को व्यापार न कह कर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है, उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए व्यापार चलाना चाहिये, धन जमा नहीं करना चाहिये, धन को जनता को सुख पहुँचाने के लिये खर्च करे; ऐसे ही चाहिए प्राण भी चला जाये। सभी राज्यों में सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है चाहे जान चली जाये, धर्मोपदेशक का लोगों को सत्य की शिक्षा देना है चाहे जान चली जाये; चिकित्सक का लोगों को स्वस्थ रखना है चाहे किसी भी संक्रमणीय रोग का इलाज करने में जान चली जाये; वकील का लोगों को न्याय दिलाना चाहे मरना पड़े; और व्यापारी का लोगों के लिए आवश्यक माल जुटाना है। सब लोगों का कर्तव्य समय आने पर अपने कर्तव्य निभाने में अपने प्राण भी देना है। जैसे उपर्युक्त पेशों वालों के लिए मरने का उपयुक्त समय ज्ञात है, ऐसे ही मरने का प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है वह यह नहीं जानता कि जीना किसे कहते हैं। व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोजी और व्यापारी को धन-लाभ तो मिल ही जाते हैं, किन्तु दोनों में से एक का भी काम वेतन लाभ कमाने का उद्देश्य नहीं है; उन्हें वेतन या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम अपना कर्तव्य करते रहना ही चाहिए। यदि यह विचार ठीक है, तो व्यापारी को ऊँचा दर्जा मिलना चाहिए क्योंकि उसका काम बढ़िया माल

तैयार करना और जिसमें जनता का लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना व पहुँचाना है। ऐसा व्यापारी चाहे उस पर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाए, किन्तु न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। और साथ-ही-साथ अपने यहाँ काम करने वालों के साथ अत्यंत स्नेह-सहानुभूति-धीरज का व्यवहार करेगा। इसलिए पद-पद पर व्यापारी या मालिक को अपने आप से यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूँ, वैसा ही बर्ताव नौकरों के साथ भी करता हूँ या नहीं। व्यापारी के यहाँ अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो कामकाज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरों के साथ भी उसे करना होगा। इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। इसी तरह डूबते जहाज के कप्तान की तरह, अकाल इत्यादि संकटों में व्यापारी का कर्तव्य है कि उसके व्यापार पर आश्रित लोगों की रक्षा अपने से पहले करे। (गांधी, 2011)

धनवान का क्या आशय है और इसके फायदे क्या हैं?

व्यापारी रुपए कमाते हैं किन्तु वह यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ या नहीं। 'धनवान' शब्द का अर्थ भी व्यापारी अक्सर नहीं समझते। व्यापारी इस बात को नहीं जान पाते हैं कि जहाँ धनवान होंगे, वहाँ गरीब भी होंगे। रहट का उदाहरण ले तो देखते हैं कि उसमें लगे एक डिब्बे के खाली होने पर दूसरा भरता है। अगर हमारे सामने या पास वाले आदमी की धन की जरूरत यदि हमारे धन से पूरी न हो, तो हमारा धन बेकार है। हमारे धन की शक्ति इस बात पर आश्रित है कि हमारे पड़ोसी को धन की कितनी जरूरत है। (गांधी, 2011)

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है, ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका विनिमय करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सब को सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। यह लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने वाले हैं। जो शास्त्र (सांसारिक विद्यमान अर्थशास्त्र) इसका उल्टा है, वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। ऐसे व्यक्ति, जिसके पास सोना-चाँदी या अन्य हो, को नौकरों की जरूरत होगी; किन्तु यदि उसके पड़ोसियों से किसी को सोना चाँदी या अन्य की जरूरत होगी किन्तु यदि उसे ऐसे व्यक्ति ही मिले जिनको सोना चाँदी या अन्न की जरूरत न हो, तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा और इस स्थिति में उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सिलने पड़ेंगे, खुद ही अपना खेत जोतना होगा और खुद ही व्यवसाय के नौकरों द्वारा किये जाने वाले कार्य करना पड़ेंगे। इस दशा में उस मालदार व्यक्ति के लिए उसके सोने का मूल्य उसके खेत के पीले कंकड़ों से अधिक नहीं होगा; उसका अन्न सड़ जाएगा क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा नहीं सकेगा।

परिणाम यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में आदमी अधिक सोना-चाँदी एकत्र करना पसंद नहीं करेंगे। गहराई से सोचने पर ज्ञात होता है कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे व्यक्तियों पर अधिकार प्राप्त करना है। [अर्थात्, अपने आराम के लिए नौकर, व्यापार या कारीगर की मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है] और यह अधिकार पड़ोसियों की कम-ज्यादा गरीबी के हिसाब से ही मिल सकेगा। निष्कर्ष निकलता है कि धनवान होने का अर्थ जितने अधिक व्यक्तियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जाएं; यह तो हो ही नहीं सकता; किंतु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दुःखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो, तो राष्ट्र सुखी होता है। (गांधी, 2011)

क्या खूब धन जमा करके किसी देश का धनवान बनना क्या गलत है?

एक राष्ट्र में रुपए पैसे का चक्कर शरीर में रक्त संचार के समान है। रक्त जमा हो जाने पर जिस तरह शरीर को हानि पहुंचाती है उसी तरह एक स्थान में धन का संचित होना भी राष्ट्र की हानि का कारण होता है। यदि गणित लगाये तो साबित होता है कि दूसरे से काम लेने का फल यह होता है कि कुल वास्तविक संपत्ति घट जाती है; यह अन्याय है। चोरी की कार्यवाही से इकट्टी की संपत्ति कम ठहरती है तुलना में ईमानदारी के साथ अर्जित की हुई संपत्ति के। किसी राष्ट्र के पास खूब धन है और इसलिए वह धनवान है; यह नहीं कहा जा सकता। किसी आदमी के पास धन का होना जिस तरह उसके अध्येवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलता का लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोगविलास, अत्याचार और जाल फरेब का सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमें इसको समझने में सहायक है। एक धन ऐसा होता है जो 10 गुना हो जाता है, दूसरा धन ऐसा होता है कि आदमी के हाथ में आते हुए 10 गुना धन का नाश कर देता है। (गांधी, 2011)

तात्पर्य यह है कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। भूकंप के कारण धाराशाई हो जाने वाले मकानों की ईंटें सस्ती हो सकती हैं, किंतु इससे कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकंप की दुर्घटनाएं जनता के लाभ के लिए हुई थीं। हमारे काम से किसी को दुख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना हम सभी का कर्तव्य है। (गांधी, 2011) हम यह जानते हैं कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके, तो धन की जरूरत नहीं रहती। धन-बल से नीति-बल अधिक काम करता है। जहाँ धन काम नहीं करता वहाँ सद्गुण काम देता है। आदमी जिस परिमाण में

चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिमाण में दौलत बढ़ेगी। सच्ची दौलत सोना-चाँदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के अंदर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। इस तरह अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन-मन और मान से स्वस्थ रखा जाए। (गांधी, 2011)

तो व्यापारी नीतिमान की तरह व्यापार कैसे करें?

ईसा से कुछ शताब्दियों के पहले यूरोप में एक व्यापारी सोलोमन नाम का था। लोग उस की कहावतों का प्रचार करते थे, लोग उसकी बहुत इज्जत करते थे, और यहाँ तक की उसकी मूर्ति भी वेनिस में स्थापित की थी। उसकी कुछ कहावतों को देखते हैं। वह कहता है *“जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं, वो घमंडी हैं और यही उनकी मौत की निशानी है।”* वह यह भी कहता है कि *“हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता सत्य मौत से बचाता है।”* इन दोनों कहावतों में सोलोमन ने यह बताया कि अन्याय से पैदा किए हुए धन का परिणाम मृत्यु है। वर्तमान समय में इतना झूठ बोला जा रहा है और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणतया हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते; जैसे कि, झूठे विज्ञापन देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालने वाले लेबल लगाना, इत्यादि। सोलोमन ने यह भी कहा कि *“जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दुख देता है, वह अंत में दर-दर भीख माँगेगा। गरीबों को न सताओ, क्योंकि वे गरीब हैं। व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो, क्योंकि जो गरीब को सताएगा खुदा उसे सताएगा।”* लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ठोकर मारी जाती है। आजकल यदि कोई संकट में पड़ जाता है तो लोग उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं। उनकी तुलना में डकैत तो फिर भी बेहतर हैं, क्योंकि डकैत तो मालदार के यहाँ डाका डालते हैं। किंतु व्यापार की हालत बदतर है क्योंकि व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा जाता है। सोलोमन ने यह भी कहा कि *“अमीर और गरीब दोनों समान हैं, खुदा उनको उत्पन्न करने वाला है, खुदा उन्हें ज्ञान देता है।”* अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता। एक से दूसरे का काम सदा ही पढ़ता रहता है। इसलिए कोई किसी को ऊँचा या नीचा नहीं कह सकता। परंतु आजकल यह दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देने वाला है तब विपरीत परिणाम होता है। धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर बहती है। इसी तरह धन को भी जहाँ आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए। नदी की गति बदल सकती है लेकिन ऐसी नदियों में बाँध बनाकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊँ और आसपास की वायु को उत्तम बनाता है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि धन का मनमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है, और इस प्रकार विषतुल्य बने धन की गति

निश्चित कर दी जाए और उसका नियम पूर्वक उपयोग किया जाए, तो बाँधी हुई नदी की तरह वह विषतुल्य धन भी सुखप्रद बन जाता है।(गांधी, 2011)

अर्थशास्त्र के नियम भी यही कहते हैं कि धन जहाँ जाना चाहिये वहीं जाये, तो गलत क्या है? अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। अर्थशास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य पदार्थ तैयार किए जाते हैं, उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं। यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं? अर्थशास्त्री निरा लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। अर्थशास्त्रियों के अनुसार उनका शास्त्र कानूनसंगत और न्याययुक्त उपायों से धनवान होने का है। किन्तु इस जमाने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्याय बुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है, और यदि न्याय से धन कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला कर्तव्य होना चाहिए। अनीतियुक्त कार्य तो मछलियां, भेड़िए और चूहे भी करते हैं; बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है; चूहा छोटे जीव जंतुओं को खा जाता है; और भेड़िया आदमी को खा डालता है। आजकल लेनदेन के व्यवसायिक नियम ऐसे ही अनीतियुक्त हैं। व्यवसायियों को दूसरा नीतियुक्त व्यवहार का ज्ञान नहीं है। किंतु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, व न्याय-बुद्धि दी है जिनके द्वारा दूसरों का भक्षण कर, दूसरों को ठग कर, दूसरों को भिखारी बना कर खुद को धनवान नहीं बनाना चाहिए। अब प्रश्न है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है? अगर एक व्यापारी के पास दो मजदूर आएँ और उनमें से जो कम वेतन ले उसे व्यापारी काम पर लगाये, तो फल यह होगा कि जिससे व्यापारी काम लेगा वह तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह भी पूरा भूखा रहेगा। व्यापारी ने जिस मजदूर को रखा और यदि उसे पूरी मजदूरी दी तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा, लेकिन इसके बावजूद भी यह समझा जाता है कि व्यापारी/ मालिक ने अपने धन का उचित उपयोग किया। यह सोच गलत है। लोगों के भूखों मरने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम मजदूरी दी जाती है। मालिक यदि मजदूरी दे तो उसके पास व्यर्थ का धन इकट्ठा नहीं होगा, व्यापारी भोगविलास में धन खर्च नहीं करेगा, और व्यापारी द्वारा गरीबी नहीं बढ़ेगी। जिसे व्यापारी उचित दाम देंगे वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा, और इस तरह न्याय का स्रोत सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जाएगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फले-फूलेगा। (गांधी, 2011)

व्यापारी यदि प्रतिस्पर्धा में जीवित रहने के लिये धन कमाता है, तो क्या बुरा करता है?



इस तरह फलने-फूलने की तुलना में अर्थशास्त्री झूठे साबित होते हैं। अर्थशास्त्री कहते हैं की ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। जबकि वास्तव में यह विचार गलत है क्योंकि प्रतिस्पर्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर घटना। इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्धा से अंत में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हर एक इंसान को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। हालाँकि इस नियम पालना पर भी प्रतिस्पर्धा होगी; किन्तु इस प्रतिस्पर्धा के परिणाम स्वरूप सभी लोग सुखी और चतुर होंगे क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत नहीं होगी बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसलिए तो लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। क्योंकि वहाँदर्जे के अनुसार वेतन स्थिर होता है, प्रतिस्पर्धा तो केवल कुशलता वृद्धि करने में रहती है। सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है और इसलिए प्रायः ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्धा चल रही है, और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि व्यापारी ही खायें, और मजदूर चाहता है कि वे मजदूर मालिक को ठग लें, और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से कमा लूँ। इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी बढ़ती है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं, ग्राहक नीति का पालन नहीं करते; अर्थात्, एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं, और अंत में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दुख भोगते हैं और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वहाँ अंत में दुख आता है और उसका धन, धन नहीं विष हो जाता है। ऐसा ज्ञानी भी कहते हैं; “*जहाँ धन ही परमेश्वर है, वहाँ सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।*” अधिकतर लोग व देश मुँह से तो कहते हैं कि धन और ईश्वर में परस्पर विरोध है, तथा गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, परन्तु व्यवहार में वे लोग व राष्ट्र धन को सर्वोच्च स्थान देते हैं। (गांधी, 2011)

तो अन्ततः क्या करना चाहिये?

सबको यह सीखने और सिखाने की जरूरत है कि प्रत्येक प्रकार की स्थिति में, न्याय किस प्रकार किया जाए, नीति किस प्रकार निभायी जाए जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है, वही सुखी होता है; बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं; “*विनाशकाले विपरीत बुद्धि*” के समान हैं। जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा लोगों को देना, लोगों को उल्टी अकल सिखाने जैसा ही है। (गांधी, 2011)

मनुष्येत्तर जीव जगत में और इंसानी जीवन में, दोनों में, एक जैसी पाँच-पाँच किस्में पाई जाती हैं और इसी तरह व्यक्तियों के जीवन में, सरकारों में, और राष्ट्रों वगैरह में भी पाँच किस्में होती हैं। इन तीनों में निहित 5-5 किस्मों को उनके स्वभाव, प्रवृत्ति व प्रभाव आदि के अनुसार निम्न पाँच वर्गों में रखा जा सकता है। (कुमारप्पा, 2010)

वर्ग-1:—मनुष्येत्तर जीव जगत में चीता; इंसानी समाज में चोर व डकैत समाज इत्यादि वर्ग; तथा सरकार व राष्ट्र वगैरह में आदमखोर—नीति—पालक। (कुमारप्पा, 2010)

चीता:— हिंसक। पैदा कुछ नहीं करता। खुराक देने वाले को ही खत्म कर देता। जो भी मिले उसे मार कर खा लेना, आदमखोर। रहता पहाड़ियों, खंदकों और गुफाओं में। हर चीज पर हक और खुदगर्जी रखता। फर्ज का आभाव।

चोर व डकैत समाज:— लोगों को स्वार्थ के लिए मार डालना। लोगों का धन व संपत्ति को लूट लेना। धन के लिए किसी का भी सर काट लेना, कत्ल कर देना। बेरहम। चलते-फिरते लोगों से जेवरात आदि लूट लेना। जंगली की स्थिति।

आदमखोर—नीति पालक राष्ट्र व सरकार आदि:— अर्थात्, आदमखोर—अर्थनीति पालक। साम्राज्यशाही। लोगों की जान लेना। हिंसक हथियार संपन्न। ताकतवर देश या दल कमजोर देश/दल पर शासन करते हैं और उनका शोषण करते हैं। दूसरों को गुलाम बनाकर रखते हैं। दूसरों को सद्मार्ग व सद्बुद्धि के मार्ग पर नहीं चलने देने की स्थिति बनाकर रखते हैं। उदाहरण बतौर; भारत में अंग्रेजों का शासन और भारत की गुलामी। (कुमारप्पा, 2010)

वर्ग-2:—मनुष्येत्तर जीव जगत में बंदर; इंसानी समाज में जेबकतरे समदृश्य लोग; तथा सरकार व राष्ट्र वगैरह में जंगली—अर्थ—नीति—पालक।

बंदर:—हिंसक किंतु चीतों/आदमखोर (वर्ग-1) की तुलना में कम। साथ ही अपनी खुराक देने वाले को चीते की तरह खत्म नहीं करता। जो मिला वह खा लिया। लुटेरा। यह तोड़ा; वह तोड़ा; इसको फेंका, उसको फेंका; इसको बर्बाद किया, उसको बर्बाद किया इत्यादि। पैदा कुछ नहीं करता। जीवन का साधन जुटाने में श्रम नहीं करता। हर एक पर हक। किसी के प्रति भी फर्ज नहीं।

इंसानी समाज में:—उदाहरण है, जेबकतरे की तरह के लोगों का इसी फिराक में रहना कि किसी को भनक भी न लगे और उसका धन हथिया लेना। सामाजिक नहीं, जंगली स्थिति। स्वार्थी। हक है, किंतु फर्ज भावना नहीं। (कुमारप्पा, 2010)

जंगली—अर्थ—नीति पालक राष्ट्र, सरकार आदि:— दूसरों पर आर्थिक दबाव डालना। दूसरों का हक छीन लेना। उदाहरण बतौर: अमेरिका का जगह-जगह दखल देना। हक रखना। फर्ज नहीं। (कुमारप्पा, 2010)

वर्ग-3:-मनुष्येत्तर जीव जगत में छोटी चिड़िया; इंसानी समाज में किसान वर्ग; तथा सरकार व राष्ट्र वगैरह में स्वावलंबन/कारोबारी-नीति पालक वर्ग। (कुमारप्पा, 2010)

छोटी चिड़िया:- छोटे प्रकार की चिड़िया अपने परिवार के साथ रहती हैं। श्रम करके जीवनयापन साधन जुटाना। और फिर खाना। मेहनत और दूरदेशी से स्वयं तैयार किए गए घर/घोसले में निवास। हक और फर्ज दोनों की समझ। निजी सामग्री पर हक जताना: दूसरी चिड़िया के आने पर चोंच मार कर भगा देना। पैदा भी करना और उपभोग भी स्वयं करना। (कुमारप्पा, 2010)

किसान वर्ग:- कृषि/श्रम करते हैं। उपज करते हैं। सख्त मेहनत कर खाना/अन्न आदि पैदा करते हैं। हक और फर्ज दोनों की समझ। हक और फर्ज दोनों में संतुलन। सभ्यता का सवेरा द्योतक स्थित। यानी, सभ्यता के प्रारंभ की स्थिति।

स्वावलंबन/कारोबारी-अर्थनीति पालक राष्ट्र आदि:- भूतकाल में भारतवर्ष में जो खेती-अर्थनीति पर अमल किया गया है, वह स्वावलंबी/कारोबारी-अर्थनीति की मिसाल है। (कुमारप्पा, 2010)

वर्ग-4:-मनुष्येत्तर जीव जगत में मधुमक्खी; इंसानी समाज में संयुक्त परिवार; तथा सरकार व राष्ट्र वगैरह में गिरोह बंद अर्थनीति पालक वर्ग। मधुमक्खी:- एक खानदान की तरह मधुमक्खियों का झुंड का एक साथ एक ही घर छत्ते में रहना। पैदावार ज्यादा, खर्च कम; बचत करना। और सबके उपभोग के लिए पैदावार समर्पण। गिरोहों की समस्त मधुमक्खियों द्वारा फूलों से शहद एकत्र करके लाना, और एक ही छत्ते में सभी के उपभोग के लिए रखना। श्रम करके सभी के द्वारा संयुक्त रूप से घर/छत्ता बनाना। सभी द्वारा अपना-अपना फर्ज निभाया जाना। किंतु अपने स्वयं द्वारा बनाए गए छत्ते में छेद और अपने द्वारा लाकर छत्ते में एकत्र किए गए शहद, किसी पर भी हक न जताना। (कुमारप्पा, 2010)

संयुक्त परिवार:- परिवार के समस्त लोगों का एक साथ मिल-जुलकर रहना। आमदनी करके परिवार के मुखिया को देना। धन का अर्जन स्वयं के लिए नहीं, बल्कि समस्त परिवार के लिए। मिल-जुलकर खाना। और एक दूसरे के सुख-दुख में साथ रहना। एकता का भाव रहना। अपनी कमाई पर हक नहीं। अपना फर्ज परिवार के प्रति होना। (कुमारप्पा, 2010)

गिरोहबंद-अर्थनीति पालक राष्ट्र सरकार आदि:- इस वर्ग में बहुत हद तक सोवियत रूस और नाजी जर्मनी आते हैं। (कुमारप्पा, 2010)

वर्ग-5:-माँ-अर्थनीति वर्ग तथा सेवा-अर्थनीति पालक राष्ट्र, सरकार आदि। इस वर्ग को माँ-अर्थनीति वर्ग या सेवा-अर्थनीति वर्ग नाम दिया जाता है।

माँ-अर्थ नीति:- मेहनत करके व किसी को नुकसान नहीं पहुँचाए इधर-उधर से बच्चों की सेवा व पालन-पोषण हेतु साधन जुटाना और बच्चों की परवरिश करना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के बिना निःस्वार्थ कार्य करना। स्वयं के द्वारा जुटाई गई वस्तुओं पर अपना कोई हक नहीं रखकर दूसरों को समर्पण करना। दूसरों के पालन-पोषण व सुख-चैन के प्रति फर्ज रखना व निभाना। सेवा और सिर्फ सेवा करना। (कुमारप्पा, 2010)

राष्ट्र और सरकारों आदि में सेवा-अर्थनीति:- इतिहास में सेवा-अर्थनीति की मिसाल नहीं मिलती। किंतु गांधी की कोशिश इस सेवा-अर्थनीति को लागू करवाने की ओर थी। (कुमारप्पा, 2010)

उपरोक्त पाँचों सूरतें लोगों में रोजाना मिलती / घटित होती हैं। यानी, व्यक्ति उपरोक्त पाँचों सूरतों में व्यवहार करता है। कभी तो चीते की तरह, कभी बंदर की तरह, कभी इस तरह और कभी उस तरह। उदाहरण के लिए:- फूहड़पन से खाना, चीजों को फेंकना, आदमहानि पहुँचाने का व्यवहार करना आदि। (कुमारप्पा, 2010)

हमारा झुकाव माँ वाली सेवा-अर्थनीति की तरफ हो, तो हम सभ्यता की ओर जा रहे हैं; अन्यथा जंगलीपन और पशुता की ओर बढ़ रहे हैं। एक व्यक्ति के नैतिक और शारीरिक ताकत जितनी ज्यादा होगी, उतना ही वह पशुता से मनुष्यता की ओर, अर्थात् माँ वाली सेवा-अर्थनीति की ओर, बढ़ेगा। इस नैतिक और शारीरिक ताकत के लिए तालीम सहायक है। जब हम ऐसी हालत पर पहुँच जाएंगे कि हक रह ही नहीं जाए और उसकी जगह फर्ज ही हो, तब हम सेवा-अर्थनीति पर पहुँचते हैं। अहिंसा को बढ़ाने का एकमात्र तरीका है कि हम चीता-अर्थनीति से सेवा-अर्थनीति की तरफ बढ़ते जाएं। चीता-अर्थनीति से सेवा-अर्थनीति की ओर जाने पर हिंसा की मात्रा कम होती जाती है। (कुमारप्पा, 2010)

प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग से हिंसा में कमी [दरियाई अर्थनीति बनाम तालाबी अर्थनीति]

प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग करने में सजग रहने से भी हिंसा को कम किया जा सकता है। इस हेतु हमें दो प्रकार की अर्थनीति को ध्यान में रखना होगा:-1. पहली दरियाई-अर्थनीति, यानी नदी की भांति के संसाधनों का उपभोग करना और उचित तरीके से इस्तेमाल करना। इसमें ऐसे संसाधन निहित हैं, जो कभी खत्म नहीं होते। यानी, रिन्यूएबल रिसोर्सज। 2. दूसरी है, तालाब-अर्थनीति। यानी, तालाब की शान्ति के संसाधनों का उपभोग। इसमें ऐसे संसाधन निहित होते हैं जिनकी उपलब्धता सीमित है, जैसे कि, तालाब के पानी की। (कुमारप्पा, 2010)

जितना ही अधिक हम तालाबी-अर्थनीति को अपनाएंगे, उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ेगी। लेकिन हममें तालाबी-अर्थनीति से संपन्न होने का बोलबाला है, बजाय दरियाई-अर्थनीति के। और इसलिए हिंसा का प्रकोप है। उदाहरण के लिए: लोहा, लकड़ी, पेट्रोल, कोयला आदि हैं, जिनकी उपलब्धता प्रकृति में सीमित है और इन्हें मानव शीघ्र ही उत्पन्न नहीं कर सकता है और

इसलिये इनको प्राप्त करने के लिए होड़ होगी और स्वार्थ पनपेगा, झगड़े होंगे। (कुमारप्पा, 2010)

लोगों की जरूरतें कम होने से हिंसा व असत्य प्रवृत्ति में कमी

लोगों की जरूरतें से भी सत्य व हिंसा का प्रचलन तथा अर्थ नीति प्रभावित होती है। (कुमारप्पा, 2010)

जरूरतें दो प्रकार की होती हैं:—1. एक बुनियादी, यानी असली या अति-आवश्यक, और 2. दूसरी ऊपरी जरूरतें, यानी ऐश-आराम की वस्तुओं की जरूरत है। (कुमारप्पा, 2010)

सीधा सा सिद्धांत है कि बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए जितनी ज्यादा चीजें पैदा की जाएंगी, हिंसा उतनी ही कम होगी। ऐश-आराम की जरूरतें जितनी ज्यादा पैदा की जाएंगी, हिंसा उतनी ही बढ़ेगी। (कुमारप्पा, 2010)

यदि एक तरफ लोगों को भूखा मारे और दूसरी तरफ ऐश-आराम के सामान तैयार करें, तो हिंसा पैदा होगी ही। अनाज जैसी बुनियादी जरूरत की चीजों के बजाय यदि तंबाकू जैसी जरूरत की चीज पैदा करेंगे तो परिणामस्वरूप हिंसा में बढ़ोतरी होगी ही। यदि हमें समाज के अंदर सत्य और अहिंसा का व्यवहार करवाना है, तो बुनियादी जरूरतों की चीजें ज्यादा पैदा करना होंगी और ऐश-आराम की कम पैदा करना होंगी। (कुमारप्पा, 2010)

पैदावार करने का तरीका बनाम सत्य व अहिंसा

पैदावार करने से भी सत्य व अहिंसा तथा अर्थ नीति का सीधा संबंध है। सत्य व अहिंसा बनाए रखने की दृष्टि से पैदावार करने की दो अर्थ नीति हैं:—1. इस्तेमाल करने के लिए चीजें पैदा करना, और 2. व्यापार के लिए कारखाना चलाना या पैदावार करना। (कुमारप्पा, 2010)

पहली तरह के उत्पादन का उदाहरण है, माँ द्वारा अपने बच्चों की परवरिश करने के लिए कम से कम खर्च कर स्वास्थ्य के उत्तम वस्तुओं का चयन कर/ खरीद कर स्वास्थ्यवर्धक व जीवन के लिए आवश्यक भोजन को स्वयं तैयार करना है। वह अच्छा गोहूँ खरीदेगी, उसे साफ करेगी व धोएगी व सुखायेगी; फिर अच्छी तरह पीसेगी या पिसवायेगी। चीजों को बनाने में लगने वाली सामग्री में बाजार से बनी-बनायी चीजें लाने के बजाय यथासंभव सामग्री को स्वयं मेहनत कर व खर्च में बचत करते हुए अधिक स्वास्थ्यप्रद सामग्री का इस्तेमाल करेगी आदि। इस प्रकार की पैदावार में माँ का मकसद बच्चों की परवरिश करना करने, भलाई करने में दिलचस्पी होना है। और ऐसा करने को अपना फर्ज समझना और सब कुछ सेवा-भाव से करना होता है।

माँ के द्वारा, उपरोक्त उदाहरण में, पैदा की गई वस्तु को दूसरी तरह से यदि पैदा किया जाता है, अर्थात् बाजार से बनी-बनायी खरीद कर लाना, तो होगा यह कि इस तरह की पैदावार में वस्तु को पैदा करने वाला का असली मकसद उस वस्तु को पैदा करना नहीं होता है बल्कि

उसका मकसद होता है कि ग्राहक की जेब में जो पैसा है वह विक्रेता की जेब में आ जाए और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह वस्तु को पैदा करने का आसान से आसान रास्ता ढूंढता है और इसके लिए वह सब तरकीबें-हरकतें करेगा। खाने वाले के स्वास्थ्य को प्राथमिकता नहीं देता है। किसी प्रकार माल बेचने कर धन कमाने का उद्देश्य होता है। इस प्रकार वस्तुओं को तैयार करने के तरीके में लालच और गैरजिम्मेवारी बढ़ती है। परिणाम यह होता है कि समाज में आदमखोर लोग पैदा होते हैं, दूसरों को लूटने की प्रवृत्ति पनपती है, और बड़े पैमाने पर या कौमी स्तर पर यह प्रथा प्रचलित हो जाती है और परिणामतः विश्वव्यापी लड़ाई खड़ी हो जाती है। पैदावार के माँ वाला तरीके मनुष्य के अंदर प्रेम व सच्चाई बढ़ाते हैं, भले ही श्रम करना पड़ता है। वैसे भी शारीरिक श्रम करके रोटी खाना एक श्रेष्ठ नीति है। एक व्यापारी व्यापार और अपने लाभ के लिए वस्तुएं बनाता है व बेचता है, जबकि माँ घर के मनुष्य की भलाई के लिए खर्च करती है। माँ के पैदावार करने के तरीके से पैदावार करने से देश में, समाज में, और मनुष्य में स्वावलंबन बनता है। (कुमारप्पा, 2010)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाजनी अर्थनीति, या कहें डकैती वाली अर्थनीति, हमेशा मनुष्य के लिए घातक होती है तथा हिंसा व असत्य को पनपाने वाली होती है। (कुमारप्पा, 2010)

उत्पादित वस्तुओं की प्रकृति बनाम सत्य व अहिंसा

उत्पादन की जाने वाली वस्तुओं की प्रकृति के हिसाब से भी अर्थनीति निश्चित करनी चाहिए ताकि हिंसा व असत्य न पनपे। आजकल व्यापार की मंशा यह बन गई है कि व्यक्ति के जीवनयापन हेतु आवश्यक व आधारभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय करने के बजाये, आराम व गैरआवश्यक वस्तुओं का उत्पादन व विक्रय किया जाता है, जिसमें व्यापारी को अधिक धन की आमदनी हो। (कुमारप्पा, 2010)

रहन-सहन का दर्जा /स्टेटस बनाम सत्य व अहिंसा

रहन-सहन का दर्जा /स्टेटस से भी अर्थनीति प्रभावित होती है। दिखावटी रहन-सहन का दर्जा /स्टेटस भी हिंसा बढ़ाने व मनुष्य को क्षति पहुँचाने वाली अर्थनीति को पनपाती है। रहन-सहन का स्तर जो हम मंजूर करें उसमें व्यक्तियों को शक्तियों के विकास का मौका मिलना चाहिए। उच्च स्तर वाले और निम्न स्तर वाले लोगों में एक कड़ी सी बन जाना चाहिए ताकि उच्च स्तर वाले लोग निम्न स्तर वाले लोग की हमेशा मदद में लगे रहें। अक्सर जीवन स्तर को धन संपदा से नापा जाता है और इसको नजरअंदाज कर दिया जाता है कि आसपास के लोग व उनका जीवनयापन कैसा है। ऐसी बात गलत होती है, और ऐसा धनवान-वर्ग या शासक-वर्ग द्वारा लादी जाती है। ऐसी माप दिखावटी होती है और यह समस्त लोगों के जीवन

से ताल्लुक नहीं रखती। यदि हम पैदावार का माद्दा और खर्च बढ़ा दें, तो रहन-सहन अपने आप ऊँचा हो जाएगा और प्राकृतिक तरह से रहन-सहन का दर्जा बनने से लोगों की क्षमता व संस्कृति ऊँची उठेगी क्योंकि इसकी जड़ें लोगों के जीवन में होंगी। ऐसा रहन-सहन का स्तर टिकाऊ भी होगा।(कुमारप्पा, 2010)

समाज-विकास की प्रगति व सामाजिक कल्याण के सन्दर्भ में तीन प्रमुख वाद, या विचार धारायें, प्रचलन में हैं। ये विचार धारायें हैं: 1. पूँजीवाद, 2. लोकशाही समाजवाद, और 3. साम्यवाद [कम्युनिज्म]।

इनके अतिरिक्त समग्र-समाज के कल्याण व उत्थान का साम्ययोग नामक एक मार्ग और भी है, जिसे सर्वोदय के नाम से भी जाना है। (भावे, 1996)

साम्ययोग उक्त तीनों वाद-पूँजीवाद, लोकशाही-समाजवाद, तथा साम्यवाद-से उत्कृष्ट है, और इसलिये साम्ययोग का अनुपालन वर्तमान में समाज-कल्याण, मानव-कल्याण व मानवता हेतु अति आवश्यक है। (भावे, 1996)

पूँजीवाद व्यक्तियों को उनकी क्षमताओं के आधार पर मान्यता देता है। अर्थात्, पूँजीवाद में, यदि किसी व्यक्ति में पूँजीपति की दृष्टि से उत्पादन क्षमता कम है, तो उसको कम पारश्रमिक मिलता है। हो सकता है कि पारश्रमिक इतना कम हो कि उसके जीवन-यापन की अनिवार्य-से-अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सकें। पूँजीपति स्वयं का कत्वर्त्य नालायक को लायक बनाने को नहीं मानते। परिणामतः, गिने-चुने लोगों के पास लगभग समस्त सम्पत्ति का ढेर होता है, और लगभग समस्त लोगों के पास गिनी-चुनी सम्पत्ति होती है। अमीर-गरीब की खाई गहरी/चौड़ी होती है। दरिद्रता बढ़ती है।

लोकशाही समाजवाद में प्रत्येक व्यक्ति का इतना ही महत्व है कि वह शासन के चुनाव में मात्र एक वोट का प्रयोग कर सकता है। इसके अन्तर्गत बहुसंख्यक शासन करते हैं। बहुसंख्यकों की रक्षा होती है, अल्पसंख्यकों की नहीं। इस भेद-भाव से व अल्पसंख्यकों को अपर्याप्त महत्व मिलने से समाज में बुराईयों पनपती हैं।

तीसरी विचारधारा वालों, कम्युनिज्म (साम्यवाद), का मानना है कि पूँजीपति/ ऊँचे वर्ग को खत्म किये बिना समानता नहीं आ सकती। वर्ग-संघर्ष पर जोर देता है, कम्युनिज्म। हिंसा का प्रयोग करना भी अचौत्यपूर्ण ठहराता है, कम्युनिज्म। हिंसा से प्रतिहिंसा होती है और साथ ही मनुष्यता का मूल्य व प्रतिष्ठा भी घट जाती है। विरोध करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति, जिसके विरुद्ध विरोध होता है, को मानव नहीं समझता है। विरोधी की मान्यता होती है कि सम्पत्ति का मालिक वो ही है। आत्मबल को मान्यता नहीं देता, पशुबल पर विश्वास होता है: कम्युनिज्म में। (भावे, 1996)

जबकि साम्ययोग में अवधारणा होती है कि सम्पत्ति का मालिक 'मैं' नहीं हूँ। संसाधन सबके हैं। यह भी अवधारणा है कि नैतिकता सर्वोपरि है। यह भी अवधारणा है कि अपनी बुद्धि-शक्ति के

भी मालिक हम नहीं हैं, ईश्वर है। साम्ययोग हर एक मानव व प्राणिमात्र में एक ही आत्मा के अंश को स्वीकारता है। साम्ययोग न तो मानव-मानव में भेद-भाव रखता है, न ही मानवमात्र व प्राणिमात्र में भेदभाव रखता है। हाँ, इस वास्तविकता को महत्ता देता है कि मानव में जो विकास सम्भव है, वह उससे भिन्न प्राणियों की आत्मा में नहीं हो सकता, भले ही उनको शिक्षण प्रदान किया जाये। इसलिये साम्ययोग यह मानव-धर्ममानता है कि मानवमात्र सहित सभी प्राणिमात्र की रक्षा करना चाहिये। मानव-मानव के मध्य सम्बन्ध के बारे में हमारी शक्तियाँ ईश्वर की देन हैं और साम्ययोग मानता है कि हमारे समस्त गुण और हमारा शरीर भी समाज के लिये हैं। (भावे, 1996)

साम्ययोग के नैतिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र और राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिणाम होते हैं। (भावे, 1996)

साम्ययोग से आर्थिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिणाम कैसे प्राप्त होते हैं?

इसका उत्तर है: हमारे पास जो भी शक्तियाँ हैं, उन्हें हम अपनी नहीं मानते, बल्कि समाज की ही मानते हैं। सभी व्यक्ति अपनी-अपनी शक्तियों के अनुसार समाज की सेवा का काम करते हैं। कम-ज्यादा शक्ति के अनुसार सेवा की मात्रा व प्रकार कम-ज्यादा हो सकती है। किन्तु पोषण भौतिक वस्तु है, जबकि सेवा नैतिक वस्तु है, और इसलिये नैतिक वस्तु की कीमत कभी भी भौतिक वस्तु से हो नहीं सकती है व न ही आँकी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप:- किसी डूबते हुए को बचाने के सेवा के काम का मूल्य, धन से नहीं आँका जा सकता है। इसी प्रकार के उदाहरण बतौर, माँ द्वारा अपने बच्चे की सेवा करने के काम का मूल्य, लड़के द्वारा पिता की सेवा करने के काम का मूल्य, विद्यार्थी द्वारा गुरु की सेवा करने का मूल्य तथा किसान द्वारा समाज की सेवा करने का मूल्य आदि, धन से कभी नहीं आँका जा सकता है क्योंकि सेवा हृदय से उत्पन्न होती है और इसकी कीमत धन में व्यक्त कर पाना असम्भव है। (भावे, 1996)

नैतिक मूल्य सबके लिये समान होते हैं, राजा और रंक सभी के लिये नैतिक मूल्य, नैतिक कर्म, नैतिक धर्म समान हैं। समानता-साम्य है। सब शुभ की स्थिति में हैं और सभी दूसरों की सेवा करने के लिये हैं, तो क्यों नहीं आर्थिक क्षेत्र में भी श्रम का समान मूल्य नहीं होना चाहिये? आर्थिक क्षेत्रों में भी श्रम का मूल्य समान होना चाहिये। किन्तु जगत में निजी स्वार्थ के लिये शारीरिक श्रम की मजदूरी कम दी जाती है, और बौद्धिक काम की मजदूरी ज्यादा दी जाती है। शारीरिक श्रम को महत्वहीन मानते हुए शारीरिक श्रम करने वाले की कम इज्जत की जाती है, जबकि बौद्धिक काम करने वाले की ज्यादा इज्जत की जाती है और उसे ज्यादा महत्व दिया जाता है। यह भेदभाव गलत है, निराधार है, मानवीय दृष्टि से सर्वथा अनुचित है, आत्माओं की असमानता आधारित है और इसलिये सृष्टि के विरुद्ध है। यदि पारश्रमिक में अन्तर उचित ठहराया जा सकता है, तो उसका आधार सिर्फ सेवक की भूमिका ही हो सकता है। उदाहरण



बतौर, सृष्टि प्रदत्त सेवा की भूमिका जो एक माँ निभा सकती है, वह भूमिका पुत्र नहीं निभा सकता और जो सेवा पुत्र माँ की कर सकता है, वह सेवा माँ पुत्र की नहीं कर सकती है। भिन्न-भिन्न सेवक की भूमिकाओं के अनुसार सेवा का भिन्न-भिन्न मूल्य स्वीकार्य यदि हो, तो भी शर्त यह रहती है कि सभी भूमिकाओं की सेवा करने वालों के प्रति चिन्ता समान होनी चाहिये। जैसे, हर उँगली समान प्रकार की सेवा नहीं कर सकती, किन्तु हम सारी-की-सारी उँगलियों को समान महत्व देते हुए समानरूप से सभी उँगलियों की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार, समाज में हर एक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली सेवा का प्रकार भिन्न होने पर भी, सभी व्यक्तियों का धन-सम्बन्धी-मूल्य, प्रतिष्ठा और महत्व समान होना चाहिये। अर्थात्, जब नैतिक मूल्यों में अन्तर नहीं होता है, तो सभी द्वारा की जाने वाली सेवा का धन-मूल्य भी समान होना चाहिये। और इसका पालन करने से, अर्थात् सभी का धनरूपी पारश्रमिक समान होने पर गलत तरीके से विकास किये जाने की प्रवृत्ति नहीं होगी। और साथ-ही-साथ, अनेक अच्छे परिणाम नजर आयेंगे-यथा, प्रत्येक गाँव/ स्थान स्वावलम्बी बनेंगे- अनाज, कपड़ा, घी, दूध आदि प्राथमिक आवश्यकताओं की सभी वस्तुयें हर स्थान पर उपलब्ध होंगी-स्थान पूर्ण बनेंगे- लोग पूर्ण बनेंगे-सबका विकास होगा-विकेन्द्रित विकास होगा- ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं होगा-परावलम्बन नहीं होगा- किसी की स्थिति से नाजायज रूप से धन कमाने का लोभ उत्पन्न नहीं होगा- एक आत्मा दूसरी आत्मा की गुलाम नहीं बनेगी आदि। (भावे, 1996)

क्या सभी के लिये समान नैतिक-मूल्य और धन सम्बन्धी मूल्य होने के फायदे सबके हितार्थ राजनीतिक क्षेत्र और सामाजिक क्षेत्र में भी होंगे?

कैसे? शोषण-रहित व शासन-मुक्त समाज बनेगा, विकेन्द्रित शासन प्रणाली होगी, गाँव-गाँव व प्रत्येक स्थान पर वहाँ के निवासियों का ही शासन होगा। सामाजिक क्षेत्र में फायदे होंगे:- जाति-भेद व ऊँच-नीच की भावना नहीं होगी; मेहतर, चमार आदि ब्राह्मण, वैश्य व क्षत्री से नीचे नहीं समझे जायेंगे। (भावे, 1996)

इस तरह, कुल स्थिति होगी-साम्य की, समानता की, साम्य योग की- सम्पूर्ण क्रान्ति की। सम्पूर्ण क्रान्ति से आशय हिंसा से नहीं है, बल्कि इसका आशय है, आधारभूत बातों में क्रान्ति, नैतिक जीवन में क्रान्ति, आध्यात्मिक व जीवन की अनेक शाखाओं- उपशाखाओं में सम्पूर्ण क्रान्ति। (भावे, 1996)

विदेश की चकाचौंध से लोग आकर्षित होकर वास्तविकता को भूल जाते हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि विदेश में शारीरिक सुख, ऐशो-आराम सुख, धन के जमा करने के सुख, वह सत्ता हथियाने के सुख को महत्व दिया जाता है। इन सुखों को (विशेषतौर पर धन होने के सुख को) प्राप्त करने की दिशा में अंधे होकर दूसरों की अवहेलना की जाती है; दूसरों के सुख-दुःख पर

ध्यान नहीं दिया जाता है; ईश्वरीय नियमों की अनुपालना नहीं की जाती है; तथा सृष्टि का अनादर किया जाता है। लोग यह भी भूल जाते हैं कि विदेशी सभ्यता में बहुसंख्यकों का ही ध्यान रखा जाता है और उनकी संपन्नता को ही संपूर्ण लोगों की संपन्नता माना जाता है; जबकि अल्पसंख्यकों (जिनकी तादाद भी अधिक होती है) की संपन्नता पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इस प्रकार विदेशी आकर्षण, विदेश गमन, विदेशी व्यापार, विदेशी सामानों पर आश्रितता, व विदेशी नौकरियों से धन प्राप्ति आदि को ही जीवन का सब कुछ समझने से और नीति ईश्वरीय सृष्टि के नियमों की अनुपालना करने के बजाए धन के पीछे भागने से अंततः नुकसान ही होता है। विदेशियों के व्यवहार व दृष्टिकोण को सुधारने वाली सीख विदेश के ही विख्यात दार्शनिक सुकरात ने दी थी। विदेश के ही जॉन रस्किन नामक विदेशी ने सुकरात की शिक्षा के अनुरूप विदेशियों को शिक्षा देने का क्रम जारी रखा और विस्तार से विदेशियों को बताया कि तरह-तरह के व्यवसाय करने वालों को कैसा-कैसा व्यवसायिक व्यवहार करना चाहिए। यह भी अवगत कराया कि अल्पसंख्यकों व बहुसंख्यकों दोनों का ही साथ-साथ उदय व उत्थान करने वाला व्यवहार करना चाहिए; और इस प्रकार के उदय व उत्थान में सबका कल्याण है। यह भी बताया कि ईश्वरीय नियम / नीति नियमों की अनुपालना करने का आशय धर्म अनुपालना से ही नहीं लगाना चाहिए; बल्कि नीति नियमों की अनुपालना तो हर प्रकार के साधारण बुद्धि के लिए भी आवश्यक है जिन्हें धर्म के अर्थ व धर्म की बातों का ज्ञान ही नहीं होता है। (गांधी, 2011)

सत्य को गांधी सर्वोपरि मानते थे और इस सत्य की प्राप्ति के लिए कार्य करना सभी का धर्म मानते थे। इस सत्य पाने के उद्देश्य के लिए गांधी ने सबसे प्रमुख एक नियम की अनुपालना करने के लिए सभी से कहा। इस अनूठे व अद्वितीय नियम / नीति नियम का नाम है, अहिंसा। अर्थात्, धर्म व धर्मनीति थे, सत्य और अहिंसा। जीवन में की जाने वाली सभी छोटी-से-छोटी से लेकर बड़ी-से-बड़ी सारी क्रियाओं व गतिविधियों के औचित्यपूर्ण व अनौचित्यपूर्ण पूर्ण होने की जाँच करने के लिये सत्य और अहिंसा नामक इन दो मापदंडों का/छलनियों का प्रयोग करने को बताया। अर्थात्, चाहे पेट भरने के लिए खाने पीने की चीजें सम्बन्धी क्रियाएं हों, चाहे उठने-बैठने संबंधी क्रियाएं हों, चाहे पहनने-ओढ़ने संबंधी क्रियाएं हों, चाहे बोलने-चालने संबंधी क्रियाएं हों, चाहे रहने-सहन संबंधी क्रियाएं हों, चाहे धन-संपदा प्राप्त करने व कमाने और रखने संबंधी क्रियाएं हों, तथा चाहे संसार के जीव-निर्जीव व मनुष्य/गैरमनुष्य से व्यवहार करने आदि संबंधी क्रियाएं हों आदि (यानी, व्यक्तिगत हेतु या सामाजिक हेतु या व्यवहारिक हेतु या नौकरी हेतु या विज्ञान व तकनीकी विकास हेतु या सरकारी कामकाज हेतु या धार्मिक हेतु आदि) सभी प्रकार की क्रियायें यदि उक्त सत्य और अहिंसा नीति व नीति नियम के अनुसार

नहीं है, तो ऐसी सभी क्रियाएं त्यागने योग्य होती हैं, करने योग्य नहीं होती हैं और कदापि नहीं करनी चाहिए।

गांधी द्वारा बनाये गये उपरोक्त नैतिक नियम भी सत्य की भांति सत्य हैं। नैतिक नियम कभी नष्ट नहीं होते। सांसारिक नियमों से बहुत भिन्न। नैतिक नियम का जनक हमारा हृदय है, जबकि सांसारिक नियम मन-बुद्धि से बनते हैं और परिवर्तनीय होते हैं। स्वार्थ का विचार त्याग करने पर ही नीतियुक्त कार्य हो सकता है। नैतिक नियम का आधार न तो उसकी इच्छाएं होती हैं, न मोह होता है, न ममता होती है और न मन की चंचलता होती है। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) करना सबका कर्तव्य है, और नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) करना सबका स्वभाव होना चाहिये। नीति पालन बातों से नहीं होती, नीतिमार्ग पर लगातार तब तक चलने से होता है जबतक पूर्ण मनुष्यता नहीं आये। नीति पालन में व्यक्ति को पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिये। क्योंकि श्रद्धा से अंतर्ज्ञान व आत्मिक-ज्ञान की वृद्धि होती है, श्रद्धा भक्ति से व सत्संग से प्राप्त होती है। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) मनुष्य को अपनी इच्छा से करना चाहिये। नीतियुक्त कर्म सोच-विचार कर किये जाते हैं। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) वो होता है जिसके प्रयोजन में साध्य और साधन दोनों ही शुभ हों। नीतियुक्त कर्म (नैतिक नियमयुक्त) की पालना से विचार अच्छे होते हैं। नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) कार्य करने के लिये प्रत्येक मनुष्य बाध्य होता है। सबका अंतर्दामी ईश्वर है मानते हुये प्रत्येक मनुष्य को देह, दिमाग और मन आदि उसमें निहित अदृश्य तत्वों, तीनों को ही, समझना व उसके अनुसार आचरण भी करना नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) कार्य करना है। जो व्यक्ति नहीं मानता, उसका नाश होता है। रीति-रिवाज या पारम्परिक कर्मों को नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) कार्य नहीं समझना चाहिये। छोटे-छोटे नियमों के पालन करने के अभ्यास से नीतियुक्त कर्म करना मनुष्य सीखता है। नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) आचरण करने से सुख, स्वतंत्रता और शांति मिलते हैं। नीतियुक्त (नैतिक नियमयुक्त) आचरण करने वाला उदार, दयावान और निःस्वर्धी बनने की कोशिश करता रहता है और दुर्बल, दीन और दुखी के प्रति सहानुभूति रखता है।

गांधी की 'नीति शिक्षा' के प्रमुख तत्व हैं—

सत्य; अहिंसा; जात-मेहनत; अस्तेय; अपरिग्रह; अस्वाद; स्वदेशीयता; नम्रता; सर्वधर्मसमभाव; अभय; ब्रह्मचर्य; इन्द्रियनियन्त्रण; शुद्ध, शान्त व न्यायदर्शी बुद्धि; नीच कामों से नफरत; मत-धर्म-वर्ण-भाषा सम्बन्धी अभेदभाव।

नीति-शिक्षा में शिक्षा निहित है कि बच्चों को बचपन से ही वैज्ञानिक ढंग से शारीरिक श्रम द्वारा और बौद्धिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास-केन्द्रित शिक्षा देनी चाहिये ताकि एक ओर शिक्षा स्वावलम्बित हो, और दूसरी ओर बड़े होने पर बच्चों नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों आधारित

अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं को हासिल करने के लिये धन कमाने में सक्षम रहता है। और इस प्रकार बच्चे बढ़े होने पर बेरोजगार हो ही नहीं सकते। अर्थात्, नीति शिक्षा से तो गरीबी की स्थिति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। प्रश्न उठता है कि जो गरीबी की स्थिति है, उसको दूर करने में नीति शिक्षा की भूमिका क्या होगी? नीति शिक्षा अन्तर्गत सत्य—अहिंसा युग्म शिक्षा की पालना लोगों को अवाँछित बेरोजगारी की स्थिति से संघर्षकर मुक्ति पाने में सहायक है। व्यक्तियों द्वारा धन कमाना, अर्थात् अर्थशास्त्र, भी गांधी की 'नीति शिक्षा' आधारित है, और इसलिये यदि गांधी द्वारा प्रस्तावित उनकी 'नीति शिक्षा' आधारित उनके अर्थशास्त्र के कार्य किये जाते हैं, तो निःसन्देह विद्यमान गरीबीव बेराजगारी की स्थिति भी दूर होगी। और जहाँ सभी व्यक्ति इन कत्वर्थों को निभाता है, तो स्वभावतः और निश्चित ही वहाँ गरीबीव बेराजगारी हो ही नहीं सकती है।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि मनुष्य की भावना उसके अंदर का बल है और व्यापार व व्यवसाय का नियम एक सांसारिक नियम है। पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति और मानव व्यवहार में लेनदेन के नियम की शक्ति दोनों अलग—अलग हैं। मनुष्य के विकासके लिये लेन—देन, खरीदी—बिक्री या माँग—उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ कम नहीं आता है।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि सांसारिक नियम कितने भी सही क्यों न हों किन्तु भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते और इस प्रकार बनाये गये नियम मनुष्य के लिए व्यर्थ हैं। जानते हुए कि मनुष्य में जीव है, नियम मनुष्यता के विरुद्ध बनाये जाते हैं, जो मनुष्य पर लागू कभी भी नहीं हो सकते हैं।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। लेन—देन के नियम के आधार पर मानव पर शासन करने के किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती है। गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम कहते हैं कि सिर्फ ईश्वरीय नियम ही ऐसा है जो मानव पर लग सकता है और यह नियम इंगित करता है कि धन के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। ईश्वरीय नियम न्याय का नियम है और सर्वव्यापक है, व मानव के नियन्त्रण के परे। इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति के आधार अपना स्वार्थ पूरा करने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम कहते हैं कि नीति—न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह—सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक नौकर का संबंध आश्रित होना चाहिये। नौकर अगर मशीन होता और उसे चलाने के लिए मानव—भावना—स्नेह—प्रेम—आत्मा को छोड़कर अन्य किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह सांसारिक अर्थशास्त्र ठीक हो सकता था। किंतु नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है, और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों मानव

पर लागू करने के कारण गलत साबित होते हैं। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर अधिक से अधिक काम नहीं लिया जा सकता है।

व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है, किन्तु लोगों ने मान लिया है कि व्यापारी का उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। और-तो-और कानून भी इसी दृष्टि से बनाए जाते हैं कि व्यापारी छीन-झपट कर मनमाने ढंग से धन बटोर सके। प्रचलन ऐसा ही पड़ गया है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दें और व्यापारी अधिक-से-अधिक मांगें और वसूले। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना है, धन ही बटोरना चाहिए। गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि इस तरह के व्यापार को व्यापार न कह कर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है, उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए व्यापार चलाना चाहिये, धन जमा नहीं करना चाहिये, धन को जनता को सुख पहुँचाने के लिये खर्च करे; ऐसे ही चाहिए प्राण भी चला जाये। गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि सच्चा अर्थशास्त्र उसे कहना चाहिए जिसमें व्यापारी का कर्तव्य हो कि उसके व्यापार पर आश्रित लोगों की रक्षा अपने से पहले करे।

धनवान होने का अर्थ जितने अधिक व्यक्तियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जाएं; यह तो हो ही नहीं सकता; किन्तु गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दुःखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो, तो राष्ट्र सुखी होता है। गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि हमारे काम से किसी को दुःख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना हम सभी का कर्तव्य है।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानते हैं कि धन-बल से नीति-बल अधिक काम करता है। जहाँ धन काम नहीं करता वहाँ सद्गुण काम देता है। सच्ची दौलत सोना-चाँदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के अंदर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। इस तरह अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन-मन और मान से स्वस्थ रखा जाए।

न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है, और यदि न्याय से धन कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला कर्तव्य होना

चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, व न्याय—बुद्धि दी है जिनके द्वारा दूसरों का भक्षण कर, दूसरों को ठग कर, दूसरों को भिखारी बना कर खुद को धनवान नहीं बनाना चाहिए।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानने का परिणाम होता कि माँ वाली अर्थनीति होने से, प्राकृतिक संसाधनों का दरियाई अर्थनीति से उपभोग करने से, लोगों की जरूरतें कम होने से, माँ की भावना से पैदावार करने के तरीके से, जीवनयापन हेतु आवश्यक व आधारभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय करने से, तथा प्राकृतिक तरह से लोगों के रहन—सहन का दर्जा बनने से हिंसा व असत्य व्यवहार करने में कमी होगी, अन्यथा जंगलीपन और पशुता की ओर बढ़ेंगे।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानने का परिणाम होता कि लोगों में यह अवधारणा होती है कि सम्पत्ति का मालिक 'मैं' नहीं हूँ, संसाधन सबके हैं, नैतिकता सर्वोपरि है, अपनी बुद्धि—शक्ति के भी मालिक हम नहीं हैं, ईश्वर है, और मानव व प्राणिमात्र में एक ही आत्मा के अंश हैं। पोषण भौतिक वस्तु है, जबकि सेवा नैतिक वस्तु है, और इसलिये नैतिक वस्तु की कीमत कभी भी भौतिक वस्तु से हो नहीं सकती है व न ही आँकी जानी चाहिये क्योंकि नैतिक मूल्यसबके लिये समान होते हैं, राजा और रंक सभी के लिये नैतिक मूल्य, नैतिक कर्म, नैतिक धर्म समान हैं। संसार में निजी स्वार्थ के लिये प्रधानतः शारीरिक काम करने वालों को मजदूरी, महत्व और इज्जत कम दी जाती है, और बौद्धिक काम करने वालों को ज्यादा। यह भेदभाव गलत है, निराधार है, मानवीय दृष्टि से सर्वथा अनुचित है, आत्माओं की असमानता आधारित है और इसलिये सृष्टि के विरुद्ध है। समाज में हर एक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली सेवा का प्रकार भिन्न होने पर भी, सभी व्यक्तियों का धन—सम्बन्धी—मूल्य, प्रतिष्ठा और महत्व समान होना चाहिये। यदि इस तरह की अर्थव्यवस्था हो तो गलत तरीके से विकास नहीं होगा, प्रत्येक गाँव/स्थान स्वावलम्बी बनेंगे, अनाज, कपड़ा, घी, दूध आदि प्राथमिक आवश्यकताओं की सभी वस्तुयें हर स्थान पर उपलब्ध होंगी, हर स्थान पूर्ण बनेगा, लोग पूर्ण बनेंगे, सबका विकास होगा, विकेन्द्रित विकास होगा, ऊँच—नीच का भेदभाव नहीं होगा, परावलम्बन नहीं होगा, किसी की स्थिति से नाजायज रूप से धन कमाने का लोभ उत्पन्न नहीं होगा, और एक आत्मा दूसरी आत्मा की गुलाम नहीं बनेगी। किन्तु इस स्थिति के लिये आवश्यक है सम्पूर्ण क्रान्ति की: आधारभूत बातों में क्रान्ति, नैतिक जीवन में क्रान्ति, आध्यात्मिक व नैतिक जीवन में क्रान्ति।

गांधी की दृष्टि की नीति और नीति नियम मानने का परिणाम होता है कि मनुष्य छोटे—छोटे समुदायों में रहे, लोगों के कार्य में खास सौन्दर्य की भावना और मानवीय गौरव हो, और लोगों का अपने प्राकृतिक वातावरण के साथ उसका सकेन्द्रिय और गहरा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो, ताकि स्व—शासन, स्व—व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, का प्रयोग करके बेहतर विकास हो।

अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता। एक को दूसरे से काम सदा ही पड़ता रहता है। इसलिए कोई किसी को ऊँचा या नीचा नहीं कह सकता। परंतु आजकल यह दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देने वाला है तब विपरीत परिणाम होता है। धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर बहती है। इसी तरह धन को भी जहाँ आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए। धन का मनमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है, और इस प्रकार विषतुल्य बने धन की गति निश्चित कर दी जाए और उसका नियम पूर्वक उपयोग किया जाए, तो बाँधी हुई नदी की तरह वह विषतुल्य धन भी सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। अर्थशास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है। अर्थशास्त्री निरा लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। अर्थशास्त्रियों के अनुसार उनका शास्त्र कानूनसंगत और न्याययुक्त उपायों से धनवान होने का है। किन्तु इस जमाने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्याय बुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है, और यदि न्याय से धन कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला कर्तव्य होना चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, व न्याय-बुद्धि दी है जिनके द्वारा दूसरों का भक्षण कर, दूसरों को टग कर, दूसरों को भिखारी बना कर खुद को धनवान नहीं बनाना चाहिए।

अर्थशास्त्री कहते हैं कि प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, तो देश समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार गलत है। व्यापारियों में दूषित प्रतिस्पर्धा के कारण धोखेबाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं और साथ में जो माल तैयार होता है वह ठीक नहीं होता है। व्यापारी चाहता है कि व्यापारी ही खायें, और मजदूर चाहता है कि वे मालिक से अधिक धन वसूलें, और ग्राहक चाहता है कि मुझे सामान यूँ ही मिल जाये। इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वहाँ अंत में दुख आता है और उसका धन, धन नहीं विष हो जाता है। अधिकतर लोग व देश मुँह से तो कहते हैं कि धन और ईश्वर में परस्पर विरोध है, तथा गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है परन्तु व्यवहार में वे लोग व राष्ट्र धन को सर्वोच्च स्थान देते हैं।

जरूरत इस बात के सीखने और सिखाने की है कि प्रत्येक प्रकार की स्थिति में, न्याय किस प्रकार किया जाए, नीति किस प्रकार निभायी जाए जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है, वही सुखी होता है; बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं; “*विनाशकाले विपरीत बुद्धि*” के समान हैं। जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा लोगों को देना, लोगों को उल्टी अकल सिखाने जैसा ही है।

पूँजीवाद में गिने-चुने लोगों के पास लगभग समस्त सम्पत्ति का ढेर होता है, और लगभग समस्त लोगों के पास गिनी-चुनी सम्पत्ति होती है। अमीर-गरीब की खाई गहरी/चौड़ी होती है। लोकशाही समाजवाद में बहुसंख्यक शासन करते हैं, बहुसंख्यकों की रक्षा होती है, अल्पसंख्यकों की नहीं। कम्युनिज्म (साम्यवाद) में वर्ग-संघर्ष निहित होता है, हिंसा का प्रयोग निहित होता है, हिंसा से प्रतिहिंसा होती है, मनुष्यता का मूल्य व प्रतिष्ठा भी घट जाती है, मानव ही मानव का दुश्मन हो जाता है, आत्मबल को नहीं माना जाता, पशुबल पर विश्वास होता है। इस प्रकार इन तीनों तरह के शासन से अवाँछित स्थिति बनती है।

वास्तव में भौतिकवाद में नैतिक व्यवहार करने का कोई आधार नहीं है, और इससे व्यक्तियों को अच्छा बनने के लिए कोई प्रेरणा नहीं मिलती है। भौतिकवादी व मार्क्सवादी गांधी की बतायी नीति का पालन नहीं करते हैं। मनुष्य का निर्माण चेतन-शक्ति, समाज और संस्कृति सभी से मिलकर होता है; न कि मात्र हाड़-माँस का पुतला होने से। और भौतिक पदार्थ को चाहे कितना ही महत्व क्यों न दिया गया हो, वो सिर्फ अभिव्यक्ति मात्र है। यदि भौतिक पदार्थों का स्थूल पदार्थों व इन्द्रियानुभव से सृजित आधुनिक विज्ञान ही मानव जीवन का आधार है, तो इसका अर्थ हुआ कि किसी भी व्यक्ति को अच्छा, उदार, दयावान और निःस्वार्थी बनने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। किसी दुर्बल, दीन और दुःखी के प्रति सहानुभूति नहीं होनी चाहिए और नैतिक व्यवहार नहीं करना चाहिये। लेकिन ऐसा भी कोई नहीं कहता है। लोग जी रहे हैं—सत्ता पाने, सम्पत्ति पाने, लोगों से जयजयकार कराने, लोगों से आदर पाने, के लिए ही। यह सही नहीं है। क्योंकि नैतिक आदर्शों का स्पष्टरूप से एक इतिहास है, व नैतिक आदर्श सामाजिक कल्याण व प्रगति का आधार हैं। किन्तु जब मनुष्य सिर्फ उक्त आधुनिक विज्ञान व भौतिकता को हर जगह महत्व दिया जाना देखता है, तो सन्देह करता है कि वह नैतिक नियमों के अनुसार आचरण क्यों करें। किन्तु भौतिकवाद उसका कोई जवाब नहीं दे पाता है। इसी प्रकार समाज-सेवा, त्याग, स्वतंत्रता, समानता और अन्य सब आदर्शों के पालन करने वाले के समक्ष प्रश्न होता है कि वह इन आदर्शों फिर पालन क्यों करे और इनकी वजह से बेवजह परेशानी और नुकसान क्यों सहे। इसका भी भौतिकवादी तत्वज्ञान कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाता है। हालाँकि गिने-चुने तात्विक भौतिकवादी व्यक्तियों के उदाहरण हैं, जिन्होंने उच्च आदर्शों के लिए महान् त्याग किये हैं। लेकिन गिने-चुने लोगों की बात नहीं है, बात आमजन की है। यदि मनुष्य को एक यंत्र माना जाता है, तो उसकी गतिविधि यथानिश्चित रहती है और व्यक्ति को संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं होती है। तब जरूर मार्क्स और लेनिन जैसे को दुनियाभर के शोषितों के लिए काम करने और कष्ट झेलने ही पड़ते हैं। फिर भी सत्य यह है कि कट्टर से कट्टर मार्क्सवादी भी मनुष्य को एक जड़ यंत्र मानने को कभी तैयार नहीं हुआ और न ही होगा।



सृष्टि में सभी या तो जड़रूप हैं, या चेतनरूप में। मार्क्सवाद की गलती यह थी कि उसने यह पाया कि चैतन्य का ज्ञान उसी तरह हो सकता है जैसे जड़ का और यह नहीं माना कि जड़ के नियम चैतन्य पर लागू नहीं हो सकते। स्थूल पदार्थों या आधुनिक विज्ञान का अध्ययन एक वस्तु-आधारित शोध है, जबकि चैतन्य का अध्ययन है एक आन्तरिक अनुभूति होती है। और इसलिये उक्त विज्ञान नीति-निरपेक्ष होता है। चेतन शक्ति को स्थूल-पदार्थ का एक व्यवहार मानकर बताकर मार्क्सवादियों और भौतिकवादियों ने नैतिकता की बुनियाद का विनाश कर दिया। मार्क्सवादी या आधुनिक विज्ञानवादी क्रान्तिकारी नैतिक मूल्यों के बारे में बहुत बातें करते हैं, किन्तु वह उनके उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधनों का प्रयोग करने पर विश्वास करते हैं। और ऐसा मानकर वो कुछ भी बुरे कर्म करने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं। मार्क्सवादी और भौतिकवादी आदि चेतन शक्ति को आधुनिक विज्ञान की तरह से समझना चाहते हैं, किन्तु विज्ञान के लिए भी चेतन-शक्ति को समझ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह एक आत्म अनुभूति की बात है और अपने इस गुण के कारण ही भौतिक तरीकों के द्वारा जानी नहीं जा सकती। तभी तो आजतक सारे वेदान्ती, सूफी और योगी, जिन्हें आत्म अनुभूति या पूर्णब्रह्म की अनुभूति हुयी, उस आत्म अनुभूति को किसी भाषा में भी व्यक्त कर नहीं सके; भौतिक रूप में प्रदर्शित करना तो दूर की बात है। वो तो अपने तत्व चिन्तन में मग्न रहते थे और उनका अपना जीवन ही सभी के लिये आत्मानुभूति का सदुपदेश होता था। आत्म ज्ञान से द्रष्टा एवं दृश्य एक हो जाते हैं, जबकि आधुनिकविज्ञान इस द्वैत को व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि किसी बाहरी पदार्थ के अध्ययन में द्रष्टा और दृश्य अलग-अलग रहेंगे ही। मनुष्य जब सृष्टि के समग्ररूप को समझने या उसके साथ आत्म-साक्षात्कार करने की कोशिश करता है, तो उसमें नैतिक मूल्य पैदा होना शुरू होते हैं और इस समग्रता का अनुभव होने पर उसके लिए नैतिक मूल्यों के अनुसार आचरण करना सांस लेने की तरह ही सहज और स्वाभाविक हो जाता है। इसलिये सभी व्यक्तियों की, व्यवसायों, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक गतिविधियों को एक साथ मिलकर सबका एक समष्टिरूप होना चाहिए और इस समग्रता का केन्द्र-बिन्दु जीवन का तत्त्वज्ञान होना चाहिए। भौतिक सम्पन्नता को देवता के समान मानने और भौतिक पदार्थों की अनन्त व निरन्तर भूख को शान्त करनेवाली जीवन-दृष्टि का समर्थन करने से काम नहीं चलेगा। यदि लोगों को लगातार यह भूख उनको सताती रही, तो उनके दिल और दिमाग में और एक दूसरे के बीच आपस में शान्ति नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच एक विनाशकारी प्रतिस्पर्धा खड़ी हो जायेगी। हर एक अपने पड़ोसी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा और हर एक देश केवल दूसरे देशों को पछाड़ने की कोशिश करेगा और अन्ततः ऐसे बने असन्तुष्ट समाज में हिंसा और युद्ध पनप जाते हैं तथा जीवन के सारे मूल्य 'और चाहिए', 'और चाहिए' की भूख के अधीन हो जायेगें। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सभी इस 'अधिक चाहिए', 'और भी अधिक चाहिए' के एक ही लक्ष्य की पूर्ति में लग जायेंगे। सभी

समानता, स्वतंत्रता, और बन्धुत्व भौतिकवाद की बाढ़ में डूब जायेंगे। मानव-जीवन में कोई सच्चा सन्तोष नहीं रहेगा; क्योंकि जिनता ही अधिक होता है, उतनी ही अधिक भूख बढ़ती है। नैतिकता की विद्यमानता के लिये, नैतिक और मानवीय व्यक्तित्व के विकास के लिये, तथा मानवीय गुणों और मूल्यों के पनपने के लिए शारीरिक भूख व वासनाओं पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। यदि लोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं पर काबू करना नहीं सीखते हैं, निश्चय ही समाज दो टुकड़ों में बँट जायेगा। एक समाज व जगत उन लोगों की होगा जो दूसरों पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करेंगे और दूसरा समाज बाकी बचे हुए सब लोगों का होगा। अनुशासित करनेवालों पर अनुशासन करने तथा राज्य करने वाली समस्या पैदा होगी। इसका एक हल यह कि ऊपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक-से-अधिक सम्भव हो, सीमित व छोटा कर दिया जाय। किन्तु इसके लिये समाज के प्रत्येक सदस्य को आत्मानुशासन से काम करना होगा। आधुनिक विज्ञान व तकनीकी विकास से वर्तमान औद्योगिक सभ्यतायें ही निकली हैं, और इसने अखिल विश्व को सिकोड़कर एक पड़ोस बना दिया है; किन्तु वास्तव में पड़ोसी भी अपरिचित बन गये हैं। साथ ही अफसरशाहों, व्यवस्थापकों, यंत्रज्ञों और अंकशास्त्रियों की चाँदी हो गयी। घर में बिखराव हुआ, व भाई-भाई अलग हुए। अच्छा तो यह है कि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहे, जिससे स्व-शासन, स्व-व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, आदि इन सबका प्रयोग और विकास मानव के वास्तविक अर्थ के लिए हो सके और सन्तुलित विकास के लिए प्रकृति और संस्कृति के बीच मधुर सम्बन्ध पैदा हो सकें। मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक लोग स्वतंत्र और स्वशासित रहते हुए एक-दूसरे के प्रति व्यक्तिगतरूप उत्तरदायित्व न समझें; लोगों के कार्य में सत्यमं-शिवं-सुन्दरम की भावना और मानवीय गौरव न हो और लोग अपने प्राकृतिक वातावरण को अपना आधार मानकर उससे गहरा अटूट व सहअस्तित्व का सम्बन्ध न हो।

वैश्वीकरण क्या है। आर्थिक वैश्वीकरण। विश्व नीति के नियमों का वैश्वीकरण की बात नहीं करता है। आर्थिक वैश्वीकरण की दुहाई देकर वैश्वीकरण-वैश्वीकरणका शोर मचाया जा रहा है। अर्थात्, धन, व्यापार, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, पूँजी प्रवाह, विदेशी प्रवास और प्रौद्योगिकी के प्रसार के माध्यम से अर्थव्यवस्था का अन्तराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण। वैश्वीकरण धन, व्यवसाय व तथाकथित आधुनिक अर्थशास्त्र पर आधारित है। वैश्वीकरण, मानों मानव जीवन धन लेकर ही जन्म लेता है, जीवन भर धन खाता है, और मरने पर धन नहीं ले जाता है। लेकिन, यह भूल है, भूल भी नहीं बल्कि जानबूझकर सत्य से आँखें व दिमाग को फेरना है क्योंकि कितना भी कोई धनवान हो, या धन के पीछे भागने वाला हो, अन्ततः तो वो सभी अपने दैनिक जीवन में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, छुट-पुट व आधे-अधूरे रूप में ही सही प्रेम,

अपनत्व, स्वास्थ्य रक्षा, दूसरों के लिये थोड़ा-बहुत, दूसरों से स्वयं के लिये कार्य करवाना आदि करता ही है। अर्थात्, नीति नियमों में से किसी न किसी का आधा-अधूरा व अपूर्ण व्यवहार करता ही है और ऐसा नहीं करके जीवन जी ही नहीं सकता है, फिर भी धन के नशे में चूर नीति नियमों के अनुसार नहीं चलता है। किन्तु उनके ऐसा करने से नीति नियमों की महत्व, उनके पालन करने की अपरिहार्यता कम नहीं होती, जैसे किसी के द्वारा जन्म-मरण को नहीं मानने से जन्म-मरण का होना गलत नहीं हो जाता है।

### निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन व निष्कर्ष पर शोधार्थिन ने यह पाया है कि नीति शिक्षा द्वारा नीति और नीति नियमों की व्यवहार में अनुपालना से ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जो कि धन-सम्पत्ति के सापेक्ष आधारित होते हैं, की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी, बल्कि सभी तरह के भेद-भाव समाप्त होंगे। सभी व्यक्ति मनुष्यत्वपूर्ण होंगे, सभी बच्चे निःस्वार्थरूप से दूसरे मानवमात्र व प्राणिमात्र की सेवा के लिये ही समस्त कार्य करेंगे।

शोधार्थिन ने यह भी पाया है कि 'नीति शिक्षा' में ऐसा कुछ नहीं है जो बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न करे, बल्कि 'नीति शिक्षा' में वह सब कुछ है जिससे बेरोजगारी तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती साथ-ही-साथ 'नीति शिक्षा' विद्यमान बेरोजगारी को भी दूर करने में सहायक होगी। फलस्वरूप यह पाया गया कि 'नीति शिक्षा' बेरोजगारी की स्थिति का कारक नहीं होगी और 'नीति शिक्षा' विद्यमान बेरोजगारी को दूर करने में सहायक होगी।

शोधार्थिन ने यह भी पाया है कि 'नीति शिक्षा' में ऐसा कुछ नहीं है जो गरीबी की स्थिति उत्पन्न करे, बल्कि 'नीति शिक्षा' में वह सब कुछ है जिससे गरीबी तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती साथ-ही-साथ 'नीति शिक्षा' विद्यमान गरीबी को भी दूर करने में सहायक होगी।

यह पाया गया कि 'नीति शिक्षा' गरीबी की स्थिति का कारक नहीं होगी और 'नीति शिक्षा' विद्यमान गरीबी को दूर करने में सहायक होगी। अतः यह पाया गया कि 'नीति शिक्षा' गरीबी की स्थिति पर काबू पा सकेगी।

उपरोक्त विवेचन व निष्कर्षों से अन्त में शोधिका ने यह निष्कर्ष पाया कि 'नीति शिक्षा' के अर्थ से आर्थिक वैश्वीकरण ठीक नहीं है। अतः यह पाया गया कि 'नीति शिक्षा' आर्थिक वैश्वीकरण में बाधा होगी।

